
अध्याय तीसरा

कबीर वाणी में प्राप्त समाज-दर्शन
अ) कबीर का धर्माचरण संबंधी चित्रण-
विचार और आचार-कर्मकाण्ड-बाह्याचार ।
आ) नारी-भावना ।
इ) गृहस्थ और संन्यास धर्म ।
ई) अनिष्ट प्रथा और परंपराओं की आलोचना ।

कबीर बाणी में प्राप्त समाज-दर्शन।

कबीर वाणी में प्राप्त समाज - दर्शन ---

दर्शन का स्वरूप --

दर्शन शब्द की निष्पत्ति के बारेमें विचार करते हुए यह स्पष्ट होता है कि दृश धातु से करण अर्थ में लृप् प्रत्यय लगाने से दर्शन शब्द बनता है। जिसका अर्थ देखना यह है। देखने की क्रिया आँखों से होती है। अतएव दर्शन का अर्थ आँखों द्वारा देखना, देखा हुआ यह हुआ। आँखों का देखना स्वाभाविक धर्म है। बाँधिका विकास स्तर के अनुसार मनुष्य के देखने का स्वरूप बदलता रहता है। दृश्य जगत के विविध रूपों को देखते-देखते वह उनके भीतर प्रवेश करने लगता है। चिन्तन, मनन आदि साधनाओं से उसमें स्मरहित रहस्य को समझने लगता है। जिनके बारेमें कहा गया है, 'नहीं जानात पशमम चक्षुः।' इस दिव्य ज्ञान-दृष्टि को पाकर समस्त ब्रह्मांड में सम्यक् सत्य का दर्शन होने लगता है। इस तरह अंतर एवं बाह्य दृष्टि से जगत के मूल कारण तथा मूल स्वरूप को समझना दर्शन का लक्ष्य है।

दर्शन केवल ज्ञान तक ही सीमित नहीं होता है, बल्कि वह व्यवहार में भी उतरता है और यह स्वाभाविक ही है। मनुष्य को दार्शनिक दृष्टि समाज

से मिलती है । समाज में ही वह छोटे से बड़ा होता है । उसकी परिवर्तिता शिखा-दीक्षा होती है । जीवन के अनेक अनुभवों से वह समृद्ध होता है । जन्मना, बीना, मरना प्रकृति के ये तीनों गुण उसे समाज में दिखायी देते हैं । बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था में सन्निहित तन्त्र और उसके विनाश का आभास उसीमें उसे मिलता है । अपने आसपास के वातावरण से वह प्रभावित होता है ।

“कोई भी दर्शन शून्य में नहीं पैदा होता । वह जिस परिस्थिति में पैदा होता है, उसकी उस पर छाप होती है ।”^१

उस पर देश, काल एवं समाज की छाप होती है । कबीर का दर्शन 'मौलिक दर्शन' है । वह समकालीन परिस्थितियों से प्रभावित है । उसमें एक सामाजिक चेतना है । एक सामाजिक प्रेरणा है, जो पथ भ्रान्त मानव को एक उचित मार्ग दिखाता है ।

कबीर में सामाजिक चेतना --

कबीर का अनुभव विश्व समृद्ध था । उनमें आत्मज्ञान जाग गया था और उन्हें अनन्त सत्य की प्रतीति भी हुई थी । सत्य ने उनके भीतर ज्ञान की अनन्त आँखें खोल दी थीं ।

‘स्तगुर को महिमाँ अनेँ, अनेँ किया उपगार ।
लोचन अनेँ उषाडिया, अनेँ दिखावनहार ॥’^२

वे समाज को आँखें पनाड-पनाड कर देखते थे । हर एक व्यक्ति में सम्यक् रूप से सत्य का दर्शन करते थे । कबीर जागरणक थे, जाग गये थे, जागकर देखते थे । सारा समाज सोया था, सब की आँखें बन्द थीं । वे सबको जगाते थे । सब को वह वस्तु दिखाते थे, जिसको मनुष्य देखकर भी नहीं देख पाता ।

‘कबीर सूता क्या कर, काहे न देख जागि ।
जागा संग तँ बीछुड्या, ताही के संग लागि ॥’^३

उनकी आँखों में बड़ा तेज था । उस तेज के सामने चाँसल दीपक (चाँसल कलायें) तथा चाँदह चन्द्रमा (चाँदह विद्यार्थ) के प्रकाश धुँधले थे । पण्डितों के 'वेद पुराण' तथा काजी के 'कुराण' फीके थे । कबीर ने इस ज्ञानबन्धु को पाने के लिए कठिन साधना की थी । उन्हें सबल इन्द्रियों से जूझना पड़ा था । तथा प्रेम (भक्ति) के घर में पहुँचने के पहले सीस को उतार कर हाथ में रखना पड़ा ।

कबीर यह घर प्रेम का, षाला का घर नांहीं ।
सीस उतार हाथ साँ, तब पँठे घर मांहीं ॥ ४

उन्होंने संसार में जो कुछ सीखा था, अपने को भिटाकर सीखा था । ब्रिक्ति रहते हुए भी अपने को मृतक समझा लिया था । क्योंकि जहाँ अपने अस्तित्व एवं अधिकार का भाव होता है, वहाँ स्वार्थ आ जाता है । वहाँ परार्थ एवं परोपकार का भाव तिरौहित हो जाता है । इससे स्वोदयवाद या समाजवाद का मार्ग अवरनघट होता है । कबीर बहुत सुस्झो विद्यार्थी के व्यक्ति थे । वे स्वार्थ की संकुचित सीमा में न बँधकर व्यापक मानवता के क्षेत्र में उतर गए थे । इसीलिए उन्होंने अपना घर जलाकर पर सेवा और सू संति की थी । उनकी 'घर फूँक मस्ती' में स्वार्थी प्रवृत्तियाँ जल गयी थीं । उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि पृथ्वी में पाये जानेवाले सब धन स्वार्थ के लिए है । दास का स्वार्थ तो 'भक्ति' है । कबीर तो राम का स्वार्थी है, जिसे शरीर और शारीरिक सुख की कुछ परवाह भी नहीं की ।

आप स्वार्थ मेदनीं, भगत स्वार्थ दास ।

कबीरा रांभ स्वार्थी, जिनि छँडि तन की आस ॥ ५

वे मानते थे, स्वार्थी घर जला देने से मानवतावादी घर की रक्षा हो सकती है । पैसा-पैसा जोड़कर अपना घर बनानेवाला व्यक्ति घर के साथ मर जाता है, पर धन की परवाह न करनेवाला त्यागी पुरनछा अमर हो जाता है । कबीर इसलिए दुःखी थे कि सारा संसार अपने 'मैं' के लिए मरता है, जिस 'मैं' से उसका कोई सम्बन्ध नहीं । संसार की नश्वरता (काल) सू के 'मैं' को तोड़ देती है ।

फिर भी इस बात को कोई नहीं समझता । सब अपने सुख के वैभव-विस्तार की खोज में थे । सारा सन्सार खा-पीकर हँसी-बुझातीं सोता था । दास कबीर जाग-जाग कर रोते थे ।

“ सुखिया सब संसार हँ, खायँ अरुन सोवँ ।
दुखिया दास कबीर हँ, जागँ अरुन रोवँ ॥ ” ६

समाज की दीन-हीन स्थिति को देखकर कबीर अत्यन्त व्यथित-चिन्तित थे । वे सुद के लिए नहीं, दुनिया के लिए रोते थे, पर उनके लिए कोई नहीं रोता था । अपनी तेजस्वी आँखों से वे समाज के हर किसी व्यक्ति को, हर एक समाज को, हर तरह के धर्म एवं सम्प्रदाय को, सम्पूर्ण मानव जाति को बाहर और भीतर से देखते थे । वे अनुभव कर सकते थे, समस्त मानव जाति, समस्त प्राणी जगत् के साथ एक ही विश्व प्राण ल्या हुआ है । सभी उस असीम की सीमा (अंश) हैं । सभी सीमा के भीतर असीम अपना सूत्र अलाप रहा है । इसी दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने जीव-जोव में ब्रह्म को देखा । हृदय के भीतर उन्हें राम-रहीम का आभास हुआ । समाज के सारे स्त्री-पुरनष्टों में उन्हें भगवान ही भगवान के दर्शन होते थे । उन्हें अपनी आत्मा के भीतर परमात्मा मिल गया था । उन्हें हरि में तन और तन में हरि का आभास हो रहा था । सत्य की आँखों से उन्होंने अपनी आत्मा को पहचान लिया था ।

“ कबीर सोवँ क्वारिया, दूजा कोई नांहिं ।
आपा-पर जब चीन्हियाँ, तब उलटि समांना मांहिं ॥ ” ७

उन्होंने विश्व में समाज को, समाज में स्त्री-पुरनष्ट को, स्त्री-पुरनष्ट में गुण-दोष को, ब्रह्म की इन्हों आँखों से देखा था और उन दोषों को दूर करने का प्रयास भी किया । उनका कहना था, मनुष्य सभी दोष से मुक्त हो सकता है, जब वह अपने को पहचान ले । अपने ही भीतर गुण-दोष को देख ले और अपने ही भीतर सत्य को पहचान कर ले । सन्सार का स्थिर तत्व सत्य है । उपज कर नष्ट होनेवाला तत्व झूठा है । शरीर उपज कर नष्ट होता है । शरीर झूठा है, नश्वर है । शरीर पर मुग्ध होना नादाना है और इसी कारण शरीर भेद मानना अज्ञान है । शारीरिक रूप से छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच, छुआ-छूत मानना

आत्मा की कमजोरी है। शरीर जलाने पर जलता है, गाड़ने पर गड़ जाता है। वह मिट्टी है। इसलिए काया से दूर क्वार करना 'अनमपद' को पाना है। काया के अन्दर क्या है, बाहर क्या है, निकल क्या है, दूर क्या है, क्वोर कहते हैं, एक प्रकाश है, एक ज्योति है, उसी ज्योति से सब ज्योतिर्मान है। आत्मदृष्टा ही इसे देख सकता है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से इसमें अमेद है। सागर और घड़े का पानी निमैद और एक है। वैसे ही सभी जीव एक समान है, एक है।

“जुं बिम्बहि प्रतिबिम्ब समानां, उदिक कुंम बिगरानां ।

कह क्वोर जांनिप्रम भागा, जीवहिं जीव समानां ॥”

इसी भाव को लेकर क्वोर कहते हैं, हम सब में हैं और सब मुझमें है। तीनों लोक में हमारा विस्तार है और इस विस्तृत ज्योति को हमने अपने आपको देखा है। इसी ज्योति का आवागमन हो रहा है। ज्योति एक प्रकृति तत्व है। हवा की तरह वह भी वेगवान और क्रियाशील है। यह ज्योति हर एक व्यक्ति का प्राण है, शक्ति है। यह शक्ति अकेले में कम है, पर समष्टि रूप में अधिक है, महान है। ज्योति के इस महान रूप को सत्-संगति तथा पारस्परिक प्रेम से देखा और ग्रहण किया जा सकता है।

समाज का संगठन (सत्संगद्वारा)

क्वोर ने सत्संगति द्वारा हरि-भक्ति और हरि-भजन का प्रचार किया। प्रेम का मार्ग अपना कर हँसी-मुशरी से जिन्दगी बिताने की प्रथा चलाई। परिश्रम से काम करना, सत्यशीलता और नैतिकता का प्रचार करना, परोपकार और पर-सेवा करना यह जीवित रहने के लिए सन्तों का उपदेश था। क्वोर यह नहीं चाहते थे कि ईश्वर के साधक काम न करे और भीख मांगें। वे कर्म करते हुए धर्म या भक्ति आदि करने के पहापाती थे ---

“क्वोर ने धर्म ते धूलि, बिनि धर्म धूलें नहीं ।

ते नर बिन्ठे मूलि, बिनि धर्म में घ्याया नहीं ॥”

बिना 'धन्या' या काम के मनुष्य पवित्र नहीं होता, किन्तु जो केवल 'धन्या' ही करता है, वह समूल नष्ट हो जाता है।

कबीर ने अच्छे लोगों के साथ रहना, सत् संगति करना, हरि-गुणगान करना, हरि नामस्मरण करना, परसेवा करना तथा अस्त की संगति में कभी मत्त आना, यही कहा।

“अस्त संगति जिनिजाइ रे मुलाइ,
साथ संगति मिलि हरि गुण गाइ ॥”

कबीर राम-भजन का उपदेश देते हुए कहते हैं कि तू मूल कर भी असाधुओं अथवा दुर्जनों की संगति में कभी मत्त जाना। उन्होंने साधुजनों के साथ बैठकर भगवान का गुणगान करने के लिए कहा है।

कबीर कहते हैं कि संतों की संगति में रहकर ही हृदय में हरिका गुण-गान करना चाहिए।

“कह कबीर हरि गुण गाइ लै, सत् संगति रिदा मंहारो ॥”

इस के लिए जाति और धर्म का कोई बन्धन नहीं था। भक्त की कोई जाति नहीं होती, उसका एक ही धर्म होता है। एक ही जाति होती है। वह स्वयं अपने व्यवहार से कथनी और करनी से धर्म बनाता है। ऐसे धर्म को सभी ग्रहण करते हैं। इससे मनुष्य-मनुष्य का संगठन होता है, समाज बनता है। समाज की सुरक्षा के लिए वैधानिक नियम बनाता है। जिससे की मनुष्य दूसरों का अहित न कर सके। यही परहित की भावना धर्म है। पहले धर्म का निर्माता शाक्त माना गया था। वेद-शास्त्र जो कहता था, लोग उसे धर्म मानते थे। पर कालांतर में समाज के बदलने के साथ-साथ शास्त्र भी बदल गया, धर्म भी बदल गया। पुरानी भाषा से नयी भाषा निकली। नयी भाषामें नए शब्दों से चिन्तन हुआ। इस नयी भाषा और नए धर्म को समाज ने अपनाया और पुराना शास्त्र पिछे छूट गया। पर धर्म का मौलिक रूप नहीं बदला। धर्म के ऊपर कर्मकाण्ड तथा पापकाण्ड की जो गन्दगी

बैठी थी, नए धर्म ने उसे साफ किया। जहाँ मनु ने धार्मिक होने के लिए मनुष्य में दस गुणों (धृति, क्षमा, दम, बारी न करना, शांति, इन्द्रियों पर नियंत्रण, बुद्धिशीलता, ज्ञान की उपलब्धि, सत्य और अक्रोध) का होना आवश्यक माना था। वहाँ कबीर ने इन्हीं गुणों का प्रसार और प्रचार भी किया। कबीर ने इन गुणों को इस संसार से ग्रहण किया और लोगों को ग्राह्य भी कराया था। जनमाछा में इन गुणों का (धर्म का) प्रसार उन्होंने किया। वे समाज में प्रचलित व्यावहारिक भाषा के माध्यम से लोगों के व्यवहार को बदल रहे थे। उनका कहना था, सत् संपत्ति व्यवहार ही इस जीवन का सार है और सब कुछ असार है। मनुष्य का मनुष्य से सद् व्यवहार ही धर्म है। ऐसे व्यवहार से पूरी मानवता का कल्याण होता है। जो व्यवहारशील नहीं है, वह अधर्मी है। इसीलिए कबीर ने पण्डित और मुल्ला को अज्ञानी कहा। ये दोनों भी धर्म के नाम पर प्राचीन शाक्त मत और कर्मकाण्ड को साथ लेकर चले थे। ये दोनों व्यवहारहीन थे।

“ पाडोसी सँ रनसणो, तिल तिल सुख की हाँणि ।
पंडित म्ये सरावणी, पाँणी पीवै छौणि ॥ ” १३

जो समाज में पाखण्ड फैलाकर भेद की दीवारें खड़ी कर रहे थे। पण्डित बिना अनुभव किए पंक्ति-पाण्डित्य टो रहे थे। बिना अनुभव का ज्ञान मनुष्य और समाज को घातक हो सकता है, उसका परिणाम बुरा हो सकता है। ऐसे ज्ञान पर कोई विश्वास नहीं कर सकता। विश्वास न होने से पारस्परिक व्यवहार टूट जाता है। परिवार का ही नहीं समाज और देश का व्यवहार बिगड़ जाता है। इसी ध्येय से कबीर ने हरिनाम स्मरण से लोगों में अनुभव की बात बताकर विश्वास पैदा किया।

“ कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंबाल ॥ ” १३

भक्त सदा निर्बल और स्वार्थहीन होता है। वह मन, वाणी और कर्म से सुमिरन करता है। इसलिए कबीर कहते हैं ---

‘ मनसा वाचा कर्मणां, कबीर सुमिरण सार । ’ १४

इसीलिए समाज में उसका व्यवहार सब से अच्छा होता है । वह मन से समाज को संगठित कर सकता है ।

समाज का स्वरूप --

‘ मानक हिन्दी कोषा ’ के अनुसार ‘ समाज ’ एक जगह रहनेवाले अथवा एक ही प्रकार का काम करनेवाले लोगों का वर्ग, दल या समूह, सम्प्रदाय आदि है । थोड़े में समाज के मानो बहुत से लोगों का गिरोह या झुंड या समूह जैसे स्तसंगे समाज ।

‘ व्यक्तियों की सामूहिकता से ही समाज उत्पन्न होता है । इसलिए समाज के उद्देश्य और हित, व्यक्तियों के हित और उद्देश्यों से भिन्न नहीं होते । सामूहिक उद्देश्यों के कारण ही समाज एक स्वतंत्र इकाई दीखता है । परन्तु ये सामूहिक उद्देश्य व्यक्तियों के उद्देश्य हैं और सामूहिक नियंत्रणों के द्वारा ही व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं । समाज के नियंत्रणों में ही वह स्वतंत्रता पाता है । इस प्रकार समाज और व्यक्ति का संबंध वास्तव में मनुष्य के सामूहिक और वैयक्तिक व्यवहारों का सम्बन्ध है । ’ १५

‘ समाज ’ शब्द का अर्थ किसी प्रदेश या भूखंड में रहनेवाले उस जन-समूह से है, जिसमें सांस्कृतिक एकता होती है । पर मध्यकालीन समाज विभिन्न धर्म, विभिन्न जातियों, विभिन्न सम्प्रदायों और विभिन्न राज्यों के रूप में बिकर गया था । तत्कालीन संस्कृति के अनेक रूप बन गये थे ।

‘ कबीर एक युग द्रष्टा थे । उनकी दृष्टि समग्र जीवन पर थी और जीवन समाज का एक अंग है और इसीलिए कबीर उसे भी अपनी दृष्टि से ओझाल नहीं कर सके । कबीर का युग व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का था । सामाजिकता उस समय न के बराबर थी । धर्म आदि की दृष्टि से जो अपने उत्थान में लगे थे, उसका समाज से मानो कोई सम्बन्ध ही नहीं था । उन्हें केवल अपना ध्यान था । इसकी

प्रतिक्रिया स्वरूप भी कबीर का ध्यान व्यष्टि के साथ समष्टि पर गया ।
(व्यक्ति के साथ समाज पर) और एक-की-उन्नति दूसरे के बिना उन्हें असंभव
दिखायी पड़ी । फलतः उन्होंने व्यष्टि और समष्टि को मिलाने की चेष्टा की ।
यहीं से कबीर के सामाजिक दर्शन की नींव शुरुन होती है ।

कबीर जो सोचते वही करते और जो कहते वही करते । उनकी कहनी और
कथनी में फर्क नहीं था । उनके चिन्तन की सारी धाराएँ एकरूप हो गयी थीं ।
इसी कारण कबीर के दर्शन, उनकी भक्ति, उनके धर्म और आचार - विचारों को
हम पूर्णतया सुसम्बद्ध पाते हैं ।

समत्व --

कबीर दार्शनिक के रूप में अद्वैतवादी थे । इसी कारण वे सभी को समान
सम्हाते थे । उनके लिए कोई ऊँचा नहीं था, कोई नीचा नहीं था ।

“ ऊँच नीच समसरिया, ताथं जन कबीर निस्तरिया ॥ ”^{१७}

कबीर के लिए ब्राह्मण, हाथिय, वैश्य, शूद्र वर्ण-भेद भी निरर्थक था ।

“ एक ज्योति से सब आपना कौन ब्राह्मण कौन सूदा । ”^{१८}

कबीर स्पष्ट कहते हैं कि ब्राह्मण को ऊँचा होना था, तो वह और किसी
मार्ग से आया होता । उसकी धमनियों में खून की जगह दूध बहता ताकि उसे सभी
बडा मान लें । हिन्दू-मुसलमान आदि विभिन्न धर्म भी उनके लिए अर्थहीन थे ।

“ कहँ कबीर एक राम जगहरे हिन्दू तुरक न कोई । ”^{१९}

इसी प्रकार सारी जातियों और सारे सम्प्रदायों के लोग एक हैं । कबीर का
सभी के एक या समान होने में अटूट विश्वास था और इसीलिए उन्होंने खुद उसके
अनुरूप आचरण किया और समाज को भी उसके अनुसार चलने को प्रेरित किया ।

समन्वय --

कबीर महान चिन्तक और सहज ही समन्वयवादी थे। वे सारग्राही थे। उस हंस जैसे, जो मोती कहीं से भी चुन सकता है।

* कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ।

बगुला मंडा न जाणई, हंस चुणै चुण साइ ॥ १० ✓

कबीरदास ने विभिन्न मत मतान्तरों से, हंस जिस प्रकार सागर की लहरों में से मोती चुन लेता है, विचार और व्यवहार के मोती चुन लिए और उन सब में उचित समन्वय स्थापित किया।

कबीर के समन्वय में निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग का समन्वय था। लोक और परलोक के व्यवहार संन्यास धर्म और गृहस्थ धर्म का समन्वय था। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इनका समन्वय था। कर्म करते हुए भी धर्म या भक्ति करने के भी पक्षपाती होकर उनका भी समन्वय उन्होंने किया था। निवृत्ति मार्ग की भक्ति, ज्ञान और योग तीनों शाखाओं का उन्होंने समन्वय किया था। वे हठयोग साधक थे, योगी थे। वे भक्ति करते थे और भक्त थे। वे ज्ञान को भी आवश्यक मानते थे और जानते थे।

कबीरदास योद्धियों को उपदेश देते हैं कि मन का मूल छोड़ दे और हे वीर! शरीर के पंच प्राणों को दृढ़ करके, दृढ़ आसन लगा दे।

* आसन पवन लिए दृढ़ रे

मन को मूल छांढि दे चोरे । ११

साधक अनेक समय दुबिधा में होता है। उसके मन में संशय वृक्ष पैदा होता है। उसे इसका हल बताते हुए वे कहते हैं -- परमेश्वर में दृढ़ विश्वास करके उसकी भाव-भंगति करने से संशय-वृक्ष का मूल कट जाता है।

* भाव-भंगति विश्वास बिन कट न संसै मूल । १२

कबीर ज्ञान और धर्म को एकरूप मानते हैं। वे भिन्न नहीं हैं। सच्चा ज्ञान और सच्चा धर्म एक हैं। इसलिए वे कहते हैं ---

‘ जहाँ ज्ञान तहाँ धर्म है ’

ज्ञान का महत्व स्पष्ट करते हुए वे मानते हैं कि जिस कुल में ज्ञानी, विचारवान पुत्र नहीं हो, उसकी माँ विधवा कौसी नहीं बनी? साफ है कि ज्ञान को कबीर बहुत मानते हैं। पुत्र के ज्ञान से ही माँ साम्राज्यशाली मानी जाती है।

‘ जिहि कुल पूत न ज्ञान विचारी ।
विधवा कसि न मई महतारी ॥ ’ २३

कबीर का मध्यम मार्ग भी दो सीमाओं का समन्वय ही है, जिस में सुख-दुःख, प्रवृत्ति-निवृत्ति, भू-भोजन आदि की सीमाओं को छोड़ बीच में चलने का आदेश दिया है। भिन्न-भिन्न धर्मों से अच्छी बातों-सार- को ग्रहण कर थोड़ा उड़ा दिया है और समन्वय किया है। कथनी और करनी में उन्होंने समन्वय साधा है और इस संबंध में वे सुद कहते हैं ---

‘ कथनी कथी तौ क्या भया, जे करनी ना ठहराइ । ’

या

‘ जैसी मुस ते नीकस तैसी चाले चाल । ’ २४

जिस प्रकार तुम बोलते हो उसी प्रकार तुम्हारी चाल चलन हो। उसी प्रकार सिर्फ कहने मात्र से क्या होता है? अगर उसके अनुसार प्रत्यक्ष आचरण न हो।

‘ वास्तव में कबीर के समन्वय ने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में सहिष्णुता एवं समानता का एक पुष्ट एवं तर्क-संगत आधार प्रस्तुत किया, जिसने देश को एक सर्वनाशी संधर्ष से बचाकर भारतीय संस्कृति के संस्थापन में महत्वशील योग प्रदान किया है । ’ २५

निष्कर्ष ---

कोई भी दर्शन जिस परिस्थिति में पैदा होता है उसकी उस पर छाप होती है। समकालीन परिस्थितियों से वह प्रभावित होता है। कबीर का अनुभव-विश्व समृद्ध था। उन्होंने स्वार्थ की संकुचित सीमा में स्वयं को नहीं बाँध लिया था। व्यापक मानवता के क्षेत्र में वे उतरे थे। स्वार्थ के घर को जला देने से मानवतावादी घर की रक्षा हो सकती है। त्यागी पुरनछा अमर हो जाता है। वे हर किसी व्यक्ति को, हर एक समाज को, हर एक धर्म और सम्प्रदाय को, संपूर्ण मानव जाति को बाहर और भीतर देखते थे। समाज के सारे स्त्री-पुरनछों में उन्हें भगवान ही भगवान के दर्शन होते थे। उनका कहना था मनुष्य तभी दोषामुक्त हो सकता है, जब वह अपने आप को पहचान ले। अपने गुण दोषों को देख ले और सत्य की पहचान कर ले।

शरीर पर मुख होना नादाना है। शरीर-भेद मानना अज्ञान है। शारीरिक रूप से छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच, छुआ-छूत मानना आत्मा की कमजोरी है।

कबीर ने स्तु संगति द्वारा हरि-भक्ति और हरि-भजन का प्रचार किया। कबीर कर्म करते हुए धर्म या भक्ति आदि करने के पक्षपाती हैं। उसी समय केवल धर्म के ही पिछे रहने से व्यक्ति समूल नष्ट हो जाता है। दुर्जनों की संगति का वे विरोध करते हैं। साधु जनों के साथ रहना पसन्द करते हैं। भक्त की कोई जाति या धर्म वे नहीं मानते। धर्म के ऊपर कर्मकाण्ड तथा पाषण्ड की जो गंदगी बैठी थी, उसे कबीर ने साफ किया और उसमें जो सारतत्व निहित था, वह ग्रहण किया और लोगों से भी ग्राह्य कराया। उनकी दृष्टि से स्तु संगति-व्यवहार ही जीवन का सार है। मनुष्य का मनुष्य से स्तु व्यवहार ही धर्म है।

कबीर को केवल अपना ही ध्यान नहीं था। उनका ध्यान समाज पर भी था। उन्होंने व्यष्टि और समष्टि को मिलाने की चेष्टा की। उनकी कहानी और कथनी

में पनकं नहीं था । उनके चिन्तन की सारी धाराएँ एकरूप हो गयी थीं । इसी कारण उनकी भक्ति, उनके धर्म और आचार-विचारों को हम पूर्णतया सुसम्बद्ध पाते हैं ।

निवृत्ति-प्रवृत्ति, लोके-परलोके, गृहस्थ-संन्यास इन के व्यवहार में उन्होंने समन्वय स्थापित किया । उन्होंने भक्ति, ज्ञान, योग तीनों में समन्वय स्थापित किया ।

कबीरदास ने विभिन्न मत मतान्तरों से अपने विचार और व्यवहार चुन लिए और उन सब में उचित समन्वय स्थापित किया ।